643/

तिरथयर

सत्रहवाँ वर्ष । जून १९९३ । द्वितीय अंक

19b193

जैन भवन

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र

तिरथयर

तित्थयरं

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष १७ : अंक २

जून १९९३

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी-२५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७०००७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७

सूची

जैन साम्राज्ञी शान्तला देवी	३५
ऋषभनाथ की तीर्थयात्रा : ब्राह्मण या वैदिक परम्परा से श्रमण-परम्परा तक	४१
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र संकलन	४८ ५२
जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या	५३

तीर्थंकर, तीरुच्चनाथु हिलस् , कन्याकुमारी

जैन साम्राज्ञी शान्तला देवी

श्री कुन्दनलाल जैन

पट्टमहादेवी शान्तला होय्यसल वंश के परम प्रतापी एवं पराक्रमी शासक बिट्टिदेव अपर नाम विष्णुवर्द्धन की राजमहिषी थी। वह राजशासन, धार्मिक कला संगीत, समाजसेवा आदि कार्यों में इतनी अधिक निष्णात थी कि उसके प्रजाजन उसके प्रति अत्यधिक श्रद्धावान् और विनीत भक्त थे। उसके वैयक्तिक गुणों एवं शासकीय कुशलता के फलस्वरूप तत्कालीन प्रजाजनों ने उसे इतने अधिक विरुदों (विशेषणों) से अलंकृत किया था कि संभवतः संसार का कोई ही सम्राट् या साम्राज्ञी इतने अधिक अलंकारों से अलंकृत हुआ हो। तत्कालीन इतिहास तथा शिलालेख इन अलंकारों से भरे पड़े हैं। ये सब श्रवणबेलगुलु के चन्द्रगिरि पर्वत पर निर्मित गंधवारण वसदि में उत्कीर्ण हैं।

राजमहिषी शान्तलादेवी इतनी अधिक सुन्दर और रूपवती थी कि उसके लिए इतिहासकारों ने चन्द्राानने लावण्यसिंधु, अगण्यलावण्यसम्पन्ना कश्मीरति, मनोजराजविजयपताका, कन्देबलम्बालका, लम्बितचरणनख किरणकलापा, मृदुमधुरवचनप्रसन्ना, सदर्थतमयोचितवचनमधुरसस्यंदि, वदनारविन्दा आदि सुन्दर अलंकारों से अलंकृत किया है। साम्राज्ञी शान्तला देवी विद्या, बुद्धि कौशल, प्रत्युत्पन्नमतित्व, कला संगीत आदि व्यक्तिगत गुणों से इतनी अधिक समृद्ध एवं सम्पन्न थी कि लोगों ने उसे निम्न विशेषणों से विभूषित किया, यथा—प्रत्युत्पन्नवाचस्पति, विवेक वृहस्पति, सकलकलागमानूने, सकलगुणगणनूना, विधेयमूर्ति, सर्वकलान्विता, पंचलकारपंचरत्नयुक्ता, ललितकलापचकयुक्ता, संगीत विद्या सरस्वती, गीतानवद्यनृत्यसूत्रधारा, संगीत संगत सरस्वती, विचित्रनर्तनप्रवर्तन पात्रशिखामणि, भारतागमद तिरुलेनिसलुभयक्रमनृत्यपरिणता, भरतागम भवन निहित महानीयमतिप्रदीपा आदि-आदि।

पट्टरानी शान्तला सीता, सत्यभामा और रुक्मिणी की भांति पतिव्रता थी और अपने पति की प्यारी अर्द्धांगिनी थी। उसने अपनी पति भक्ति और सेवा शुश्रूषा से अपने पति विष्णुवर्द्धन का मन जीत लिया था। इसीलिए उसे पातिव्रत संबंधी अलंकारों से अलंकृत किया, यथा—पतिव्रताप्रभावसिद्ध सीता, अभिनव रुक्मिणी देवी, पतिहित सत्यभामा, अभिनवारुन्धति, पतिहितव्रता, विष्णुनृपमनोनयनप्रिया, विष्णुवर्द्धनङ्गदचित्तबल्लभलक्ष्मी, सौभाग्यसीमा, अनवरतपरमकल्याणाभ्युदय शत सहस्रफलभोगभागिनी, द्वितीयलक्ष्मी, विष्णुवर्द्धन

दोयसलदेवर पिरियरसि, पट्टमहादेवी आदि विरुदों से शान्तला देवी के अनन्य-पति प्रेम, सौभाग्य एवं पातिव्रत्य आदि धर्मों का ज्ञान होता है। साम्राज्ञी की तेजस्विता और ओजस्विता के परिचायक निम्न विशेषण मिलते हैं : निज-कुलाभ्युदय दीपिका, परिवारफलित कल्पितशिखा, सौसिगंधहस्ति, गुद्वर्तसवति-गंधवारण आदि-आदि। पट्टरानी शान्तलदेवी व्यक्तिगत चारित्र तथा धर्माचरण आदि क्रियाकलापों के लिए निम्नविरुदों से विभूषित थी, यथा : शुद्ध चारित्रा, विशुद्ध प्राचार विमला, व्रतगुणशीला, व्रतगुणशीलचारित्रान्तःकरणा, मुनिजन विनेयजनविनीता, विनयविनमद्विलासिनी, दयारसामृतपूर्णा, अचिन्त्य-शीला अनूनदानाभिमानिनी, सकलवन्दिजनचिन्तामणि, सकलसमयरक्षामणि भव्यजनहितवत्सला, सर्वजीवहिता, सर्वमंगथितियुता, जिनधर्मनिर्मला आहारा-भयभेषज शास्त्रदान विनोदा, भुवनकदानचिन्तामणि, जिन-गंधोदक पवित्री-कृत्तोत्तमाङ्गा, जिनधर्मकथाप्रमोदा, पुण्योपार्जनकरणकारणा, जिनसमय समुदित प्रकारा, चतुस्समयसुद्धरण करणकारणा, सम्यक्त्व चूड़ामणि, आदि-आदि।

साम्राज्ञी शान्तला देवी लोकानुरंजन और प्रजापालन में सिद्धहस्त थी। उसकी ख्याति यावच्चंद्रदिवाकरौ बनी रहे इसीलिए उसे महिमामयी, विष्णु-पिदमेभूमिदेवते, रणव्यापारदोलबलमदेवते, जनक्केलपुण्यदेवते, विद्येयोलवारदेवते, सकलकार्योदोगदोलयन्त्रदेवते, आदि विरुदों से विभूषित कर लोकविख्यात बना दिया। यद्यपि राजरानी शान्तला देवी इतने अधिक सद्गुणों से सम्पन्न थी तथा सम्पूर्ण होय्यसल वंश का राज शासन उसके इशारों पर नाचता था पर दुर्भाग्य कि उसे दीर्घायुष्य प्राप्त नहीं था। वह बड़ी ही अल्पवय में लगभग चालीस वर्ष की आयु में दिवंगत हो गयी थी। चैत्र शुक्ला पंचमी सोमवार शक सं० १०५० (+७८=११२८ ई०) में महारानी शान्तला देवी शिवगंगे नामक स्थान पर अपने प्रिय पति विष्णुवर्द्धन तथा माता माचिकब्बे और पिता मारिसिंगय्य को बिलखता छोड़ अपने गुरु प्रभाचन्द्र की उपस्थिति में सल्ले-खनापूर्वक समाधिमरण कर स्वर्ग सिधारी थी, इसका उल्लेख श्रवणबेल्गुलु की चन्द्रगिरि पहाड़ी पर गन्धवारणवसदि के द्वितीय मण्डप के तृतीय स्तम्भ पर उत्कीर्ण शक सं० १०५० के विस्तृत शिलालेख से ज्ञात होता है। यह विस्तृत शिलालेख गद्य-पद्यमय है तथा संस्कृत कन्नड़ मिश्रित भाषा में है। इसमें चालीस श्लोक है जिसमें होय्यसल वंशके राजाओं के पराक्रम के वर्णन के बाद शान्तल देवी के सल्लेखना का विवरण है।

नमूने के लिए कुछ अंश उद्धृत है :

आ नेगर्दं विष्णु नृपन मनोनयन प्रिये, चलालनीलालकि चन्द्रानने।

कामन रतियलुतानेणे तोणे सरि समाने शान्तल देवी ॥
घुरदोलु विष्णुनृपालकंगे विजयश्री वक्षदोलु सन्ततं
परमानंद दिनोतु निल्व विपुल श्रीतेजदुद्दानियं ।
वरदिम्भिगियने यदि सलनेरेव कीर्ति श्री येनुतिर्प्पुदी
धरेयोलु शान्तल देवियं नेरेये बण्णिप्पण्णनेबण्णियं ॥
कलिकाल विष्ण वक्षस्थल दोलु कलिकाल लक्ष्मि नेलसिदलेने,
शान्तलदेविय सौभाग्यमनेल गलवण्णि सुवेनेम्बनेवण्णि सुव ।
शान्तलदेविगे सद्गुणअन्तेगे सौभाग्यभाग्यवतिगे वचःश्री,
कान्तेयुभगजे युभच्युतकान्तेयुभेणे यल्लदुलिद सतियद्धोरेये ॥
गुरुगलु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेवरे पेत्तताय गुणनिधि माचिकव्वे,
पिरियपेर्म्मडे मारिसिङ्गय्यं तन्दे भावनुं पेर्म्मडे सिङ्गिमय्यं ।
अरसं विष्णवर्द्धननृपंवल्लभं जिननाथंतनगेन्दु भिष्टदेरवं,
अरसि शान्तलदेविय महिमेयंवण्णिसल्बक्कुमे भूतल दोलु ॥

सकवर्षे १०५० भूरेनेय विरोधिकृत्सम्वत्सरद चैत्रशुद्धपञ्चमी सोमवारदन्दु सिवगङ्गेय तीर्थदलु भुडिपि स्वर्ग्गतेयादलु ।

साम्राज्ञी शान्तलादेवी ने शक सं० १०४४ (+७८=११२२ ई०) के लगभग वेल्गुल के चन्द्रगिरि पर्वत पर अपने विरुद 'सवति गन्धवारण' (अर्थात् सौतों के लिए मदोन्मत्त हस्ति) के नाम पर 'गन्धवारण वसदि' का निर्माण कराया था तथा उसमें भगवान शान्तिनाथ की पांच फुट ऊँची कायोत्सर्ग मुद्रा में सुन्दर कलापूर्ण मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराई थी इसका उल्लेख उस प्रतिमा के पादपीठ पर अंकित निम्न लेख से ज्ञात होता है :

प्रभाचन्द्र मुनीन्द्रस्य पदपङ्कज षट्पदा ।
शान्तला शान्ति जैनेन्द्र प्रतिविम्बमकारयत् ॥
उक्तौवक्तृगुणं दृशोस्तरलतां सद्विभ्रमं भ्रूयुगं,
काठिन्यं कुचयोर्न्निनम्ब फलके धत्तेऽतिमात्रक्रमम् ।
दोषानेवगुणी करोषि सुभगे सौभाग्य भाग्यंतव,
व्यक्तं शान्तलदेवि वक्तुमवनौ शक्नोति कोवा कविः ॥
राजते राजसिंहीव पार्श्वे विष्णु महीभृतः ।
विख्याता शान्तलाख्या सा जिनागारमकारयत ॥

महाराज्ञी शान्तला आचार्य प्रभाचन्द्र की शिष्या थी और वे स्वयं मेघचंद्र त्रैविद्यदेव के शिष्य थे, उसी गन्धवारण वसदि के शिलालेख में उत्कीर्ण

है कि—"श्री प्रभाचन्द्र सिद्धान्त देवर गुड्डि श्री विष्णुवर्द्धन भुजबलवीर गंग बिट्टि देवेन हिरियरसि पट्टमहादेवी शान्तल देविय सद्गुणवन्तेगे सौभाग्यभाग्यवतिगे वचश्श्री कान्ते युमच्युत···कान्तेयुमेणेयल्लदुलिद सतियर्दोरेये" शान्तला देवी ने गन्धवारण वसदि के निर्माण के पश्चात् उसके पूजन प्रक्षाल एवं अभिषेक हेतु वहीं पर एक गंग समुद्र नामक श्रेष्ठ सरोवर का निर्माण कराया था तथा वसदि की सुरक्षा एवं संरक्षा हेतु तथा दैनिक कार्यकलापों के लिए एक ग्रामदान भी किया था ऐसा लेख इसी वसदि में निम्न रूप में उत्कीर्ण है—"विष्णुवर्द्धन पोय्यसलदेवर पिरियरसि पट्टमहादेवी शान्तल देवि शक वर्ष सासिरद नल्वत्तय्दनेय (४५) शोभकृतु संवत्सरद चैत्र शुद्ध पाडिव वृहस्पतिवारदन्दु श्री वेल्गोलद तीर्थदोल सवतिगंधवारण जिनालयम् माडिसि देवता पूजोगर्षिसमुदायक्काहारदानक्क कल्कडिनाड मोहेनविलेयं तम्म गुरुगुल श्री मूलसंघद देसियगणद पुस्तकगच्छद श्री मन्मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवर शिष्यर प्रभाचंद्र सिद्धान्तदेवर्गे पाद प्रक्षालनं माडि सब्बंवाधापरिहारवागि विहदत्ति। गंगसमुद्रदकेलगण नडुवयल्लयवत्र कोलंगगद्दे तोटवं श्री मत्प्रभाचन्द्रदेवर कालं कर्च्चि धारापूर्वकं माडि विहदसि"।

गन्धवारणवसदि का निर्माण शक सं० १०४४ में पट्टमहादेवी ने कराया था पर उसमें शक सं० ६०४ में इन्द्रराज की मृत्यु संबंधी लेख जो इस वसदि के निर्माण से १४० वर्ष पुराना है कहां से आ गया यह एक शंका पैदा करता है। हो सकता है वसदि निर्माण के पश्चात् वहीं पर यत्र-तत्र पड़े हुए इन्द्रराज संबंधी लेख को इसी वसदि में बाद में जोड़ दिया गया हो। अस्तु

शान्तला देवी के पिता का नाम मारसिङ्गय्यहेग्गडे था तथा माता का नाम मानिकव्वे थे। इनका जन्म शक सं० १०१२ के आस-पास अनुमानित किया जाता है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि ये दीर्घायुष्य नहीं थी क्योंकि इन्होंने शक सं० १०५० में सल्लेखनापूर्वक स्वर्गारोहण किया था और इनके पति विष्णुवर्द्धन का राज्यकाल शक सं० १०२८ से १०६३ तक माना जाता है अतः शान्तला का विवाह विष्णुवर्द्धन से १६ वर्ष की आयु में राज्याभिषेक के समय होना चाहिए अतः इनका जन्मकाल शक सं० १०१२ (+१८= १०४० ई०) अनुमानित किया जाता है। इनका जन्म कर्णाटक के बलिपुर (बेलम्भव) ग्राम में हुआ था, जहाँ इनके पिता राज्य प्रशासक एवं ग्राम प्रमुख थे। यह ग्राम होय्यसल राज्य की राजधानी द्वारावती (द्वार समुद्र) का एक प्रशासनिक एकांश था। इनके पिता बड़े वीर योद्धा, पराक्रमी और

स्वामीभक्त थे पर शैव मतानुयायी थे जबकि इनकी पत्नी भामिकब्बे (शान्तला की माँ) जैन धर्मानुरागिणी थी। जिन पूजा, देवशास्त्र गुरु की श्रद्धा, रत्नत्रय व्रत धारण किया करती थी, अंत समय सल्लेखनापूर्वक देह विसर्जन किया था। जैनाचार्यों, मुनियों एवं जैन गुरुओं की भक्ति करती थी। इतनी अधिक धार्मिक विभिन्नताओं के बावजूद भी पति-पत्नी में परस्पर अपार स्नेह था तथा पूर्ण सामञ्जस्य एवं समन्वय था।

शान्तला देवी ने अपनी माता के पूर्ण संस्कार अधिगृहीत किए थे फलतः वह भी जिनशासन और जैन आचार्यों के प्रति विशेष रूप से भक्ति भाव रखती थी। जब यह केवल सात-आठ वर्ष की बालिका ही थी तभी इसके क्रिया-कलापों एवं विचारों तथा दैनिक व्यवहार से प्रभावित हो इसके गुरु बोकिमय्य ने भविष्यवाणी की थी कि शान्तला जगत मानिनी बनकर सारे विश्व में गरिमायुक्त गौरव के साथ पूजी जाने वाली मानव देवता की पदवी प्राप्त करेगी और सचमुच ही जैसे ही शान्तला ने षोडशी होकर युवावस्था में पदार्पण किया तथा होय्यसल वंश के परम प्रतापी तेजस्वी राजकुमार बिट्टिदेव या बिट्टिग (विष्णुवर्द्धन) की प्राणवल्लभा भी बनकर होय्यसल राज्य की साम्राज्ञी पद को सुशोभित किया तो गुरु बोकिमय्य की भविष्यवाणी की सफलता के साक्षात् दर्शन हुए और पूर्वोक्त लगभग ७०-७५ विरुदों से अलंकृत हो जगत-मानिनी कहलायी।

स्व० डा० ज्योति प्रसादजी जैन इस किम्बदन्ती से सहमत नहीं, वे विष्णु-वर्द्धन के धर्म परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते। किम्बदन्ती है कि शान्तला के पति विष्णुवर्द्धन रामानुजाचार्य के प्रभाव से वैष्णव धर्म में दीक्षित होने जा रहे थे कि ये देवी के दर्शनों के लिए मन्दिर गये तभी अचानक भयंकर भूकम्प आया और सारे राज्य में त्राहि-त्राहि मच गई जिससे भयभीत हो विष्णुवर्द्धन ने वैष्णव धर्म में दीक्षित होने का विचार त्याग दिया और अपनी पट्टमहादेवी शान्तला के साथ-साथ जिन शासन के प्रति श्रद्धावान् बने रहे। साम्राज्ञी शान्तला देवी ने धवलादि ग्रन्थ ताड-पत्रोंपर उत्कीर्ण कराये थे। इनके पत्रों पर शान्तला देवी और विष्णुवर्द्धन के चित्र अंकित हैं। "पेनोरमा ऑफ जैन आर्ट" के चित्र क्रमांक १२ तथा ३३६ पर देखो। इसके अतिरिक्त चित्र क्रमांक १० व ११ में भी दोनों पति-पत्नी के सुन्दर चित्र सुरक्षित हैं। होय्यसल राज्य की स्थापत्य मूर्ति एवं चित्रकलादि ललित कलाओं का विस्तृत विवरण "जैन आर्ट एण्ड आर्कीटेक्ट" तथा "पेनोरमा ऑफ जैन आर्ट" नामक ग्रन्थों में

विपुलता से संकलित है। इस तरह साम्राज्ञी शान्तला जैन धर्म की कीर्तिध्वजा को फहराती हुई अल्पायु में ही दिवंगत हो गई थी पर उसकी यश-पताका आज भी लगभग नौ सौ वर्ष के इतिहास में निष्कलुष और अक्षुण्ण बनी हुई है। किम्बदन्ती है कि पट्टमहादेवी प्रस्तर विज्ञान में बड़ी दक्ष और निपुण थी। जब वह किसी मन्दिर का निर्माण करा रही थी तो प्रधान शिल्पी ने जिस पत्थर का चयन गर्भगृह में लगाने को किया था उसका विधिवत् परीक्षण कर उसे सदोष बताया, पर शिल्पी जब उस प्रस्तर को निर्दोष बताता रहा तो पट्टमहादेवी ने उसे तुड़वाया तो उसके भीतर से मेढ़क निकला, ऐसी दक्ष थी वे प्रस्तर विज्ञान में। पट्टमहादेवी जैन होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु भाव रखती थीं तथा उन्हें समान भाव से आदर एवं सहायता प्रदान करती थी।

ऋषभनाथ की तीर्थयात्रा : ब्राह्मण या वैदिक परम्परा से श्रमण-परम्परा तक

डॉ० श्री रंजन सूरिदेव

तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव मूलतः वैदिक परम्परा के प्रतिष्ठित प्रागैतिहासिक शलाकापुरुष हैं। वे इसी परम्परा से श्रमण-परम्परा में प्रस्थित हुए हैं। उनकी तीर्थयात्रा की पदचाप ब्राह्मण-परम्परा से श्रमण-परम्परा तक समभाव से अनुगुंजित है। जैन परम्परा ऋषभदेव से ही अपने धर्म का उद्भव मानती है। वैदिक साहित्य के तहत ऋग्वेद में जिस ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है, वही जैन धर्म के ऋषभनाथ हैं। ऋषभदेव ब्राह्मण-धर्म और श्रमण-धर्म के समन्वय-बिन्दु के रूप में लोकादृत तीर्थपुरुष हैं।

प्राच्य वाङ्मय में 'आर्हत' और 'बार्हत' शब्द दो सांस्कृतिक या धार्मिक परम्पराओं के लिए उपलब्ध होते हैं। 'आर्हत्' अर्हत् के उपासक थे और 'बार्हत्' वैदिक यज्ञों और अनुष्ठानों के आराधक थे। 'बृहती' वेद का वाचक है। बृहती के उपासक ही 'बार्हत' हैं। बार्हत वैदिक यज्ञकार्य को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। आर्हतों और बार्हतों अथवा श्रमण-परम्परा और ब्राह्मण-परम्परा के बीच किसी प्रकार की ऐतिहासिक विभाजक रेखा खींचना निश्चित तौर पर सम्भव नहीं है। दोनों ही परम्पराएँ समानान्तर विकसित हैं।

'अर्हत्' शब्द के समानान्तर 'अर्हं' और 'अर्हणा' शब्द ऋग्वेद में मिलते हैं, जो पूज्य और श्रेष्ठ अर्थ के वाचक हैं। जैसे :

नृचक्षसो अनिमिषन्तो 'अर्हणा' बृहद्देवासो अमृत्वमाशुः।
(ऋक्० १०.६३.४)

यहाँ 'अर्हणा' शब्द पूजा या सम्मान का द्योतक है। शाब्दिक अर्थ है—पूज्य। इसी प्रकार ऋग्वेद का एक मन्त्रांश है :

यद्यों 'अर्हाद्', द्युमद् विभाति क्रतुमद् जनेषु। (२.२३.१५)

यहाँ भी 'अर्ह' शब्द योग्य और आदरणीय या पूज्य अर्थ का ही वाचक है।

पुनः 'ऋषभ' या 'वृषभ' शब्द का भी ऋग्वेद में भूरिशः उल्लेख पाया जाता है, जिसका अर्थ बल-वीर्य से सम्पन्न देवता है। एक मन्त्र इस प्रकार है :

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्
अवासृजत् सर्तवे सिन्धून् । (२.१२.१२)

यहाँ 'वृषभ' का अर्थ मेघ की शक्ति को रोकने वाला श्रेष्ठ देवता है। पुनः दूसरा मन्त्र है :

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति । (४.५८.३)

यहाँ 'वृषभ' शब्द का अर्थ सुख बरसाने वाला है।

ऋग्वेद के ही अंगभूत तैत्तिरीय आरण्यक में 'ऋषभ' शब्द का महाबलशाली के अर्थ में स्पष्ट उल्लेख हुआ है : 'ऋषभं वाजिनं वयं पूर्णमासं यजामहे।' (३.७.५.१३) अर्थात् महाबलशाली, वेगवान् पूर्णमास की हम पूजा करते हैं।

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में भी 'ऋषभ' शब्द का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है : 'वैश्वानरं' बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु।' (१२.१.६) यहाँ विश्वम्भरा वसुमती पृथ्वी को 'ऋषभ' कहा गया है।

इस प्रकार, ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में पूज्यात्मा सूचक अर्ह (=अर्हत्) तथा 'ऋषभ' (बलशाली देवता) के उल्लेख से अनुमान होता है कि आर्हतों और बार्हतों के समन्वय की प्रक्रिया ऋग्वेद से ही प्रारम्भ हो गई थी, जिसका पूर्णतम विकास महाभारत-काल या उपनिषद्-काल में परिलक्षित होता है। 'वृषभ' और 'ऋषभ' शब्द यद्यपि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं तथापि उनका केन्द्रीय भाव बलशाली देवता ही है। कहीं उनका वर्णन बैल, साँड़ ('वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्'—ऋक्० १०.८६.१५), ('बृहन्तं चिद्दहते रन्धयानि वयद्वत्सो वृषभं शूशुवानः।' —तत्रैव १०.२८.६.), मेघ ('अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत्।'—ऋक्० १०.७५.३), और अग्नि के रूप में हुआ है, तो कहीं जगह कामनाओं की पूर्त्ति या कामनाओं की वर्षा करने वाले के अर्थ में। ऋषभ ही रूद्र हैं और परमात्मा भी। ब्राह्मणों के शिव ही श्रमणों के ऋषभ हैं।

ज्ञातव्य है कि जैनागमों में ऋषभदेव को धर्म का आदिप्रवर्त्तक कहा गया है, तो श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव के अवतार के रहस्य या अभिप्राय के सन्दर्भ में बताया गया है कि उनके आविर्भाव का उद्देश्य वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म का विवेचन करना था। इस सन्दर्भ का मूल रूप इस प्रकार है :

"इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान्। बर्हिषि

तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवाववतार।" (५.३.१९-२०)

श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव को भगवान् माना गया है और उनकी प्रार्थना में सादर यह श्लोक कहा गया है :

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोकमाख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै॥
(५.७.१९)

अर्थात्, निरन्तर विषयभोगों की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध हुए लोगों को जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्मलोक का उपदेश किया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति के कारण सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है।

इससे स्पष्ट है कि श्रमण और ब्राह्मण दोनों परम्पराओं में विशुद्धचरित ऋषभदेव का समान आदर था। दोनों परम्पराओं ने उन्हें पूज्य माना है। ऋषभदेव जैनों के आदि तीर्थंकर हैं तो वैदिकों के लिए साक्षात् विष्णु के अवतार हैं। 'अर्ह' या 'अर्हत्' का एक अर्थ विष्णु भी है (देखें आप्टे कोश)। शिवपुराण के अनुसार अट्ठाईस योगावतारों में ऋषभदेव की भी गणना हुई है। 'श्रीमद्भागवत' के ही अनुसार ऋषभदेव ने पश्चिमी भारत (ब्रह्मावर्त्त) में आर्हत धर्म का प्रचार किया था। वह महान् योगेश्वर थे। एक बार इन्द्र ने ईर्ष्यावश उनके राज्य (अजनाभखण्ड) में अवृष्टि की स्थिति उत्पन्न कर दी, किन्तु उन्होंने योगबल से वृष्टि करा दी (५.४.४)। उन्होंने अपने शरीर का त्याग योगियों को देहत्याग की विधि सिखाने के लिए ही किया था। ("अथैवमखिल लोकपाललललामोऽपि विलक्षणैर्जडवदवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानमसंव्यवहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण उपरतानुवृत्तिरुपरराम।" —तत्रैव, ५.६.६)[१]।

'श्रीमद्भागवत' के उल्लेखानुसार भगवान ऋषभदेव का अवतार रजोगुण

---

१ ऋषभदेव के दिव्य-चरित के अनुशीलन के लिए 'श्रीमद्भागवत' के पंचम स्कन्ध के अध्याय तीन से छह द्रष्टव्य हैं।

से लिप्त लोगों को मोक्षमार्ग की शिक्षा देने के लिए ही हुआ था : अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षनार्थः।' (५.६.१२) इस प्रसंग से और फिर भागवत में वर्णित ऋषभदेव की अन्य विशेषताओं से 'तत्त्वार्थसूत्र' का यह मंगल श्लोक तुलनीय है :

मोक्षमार्गस्यनेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

ऋषभदेव ने अपने नाम की सार्थकता के बारे में स्वयं कहा है :

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद् अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः॥
(५.५.१९)

अर्थात्, मेरे इस अवतार-शरीर का रहस्य साधारण जनों के लिए बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मैंने अधर्म को बहुत दूर पीछे ढकेल दिया है, इसी बलशालिता के कारण सत्पुरुष मुझे 'ऋषभ' कहते हैं।

श्रीमद्भागवत के अनुसार ऋषभदेव आत्मतत्त्व की जिज्ञासा ('पराभवस्तावदबोधजातो' : ५.५.५) तथा अध्यात्मशास्त्र के अनुशीलन ('अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया' : ५.५.१२) को सर्वाधिक मूल्य देते थे; किन्तु परवर्ती काल के आर्हतों ने अवतारवाद और ईश्वरतत्त्व का अवमूल्यन कर दिया। वे अवश्य ही अर्हतों के उपासक थे, आत्मा को ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाली अध्यात्मवादी परम्परा को स्वीकारते थे, पर अवतार या ईश्वर को मूल्य न देने पर भी श्रमणों और ब्राह्मणों का आत्मतत्त्वमूलक केन्द्रीय भाव एक ही था।

'ऋषभ' शब्द की तरह 'वातरशना' का भी उल्लेख ऋग्वेद में आता है :

मुनियो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मलाः।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥
उन्मदिता मौनेयेन वातॉं आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्ता सो अभि पश्यथ॥
(१०.१३६.२-३)

अर्थात्, अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं या वे मलिन प्रकाश वाले हैं। इसी कारण वे पिंगलवर्ण हैं। जब वे प्राणोपासना

द्वारा वायु की गति धारण करते है, तब प्राणायामरूप तप की महिमा से दीप्त देवत्व को प्राप्त कर लेते हैं ।

सब प्रकार के लोक-व्यवहार का त्याग कर हम मौनवृत्ति से या मननशील अन्तःकरण से अतिशय हर्षित होते हैं और वायु पर आधृत हो जाते हैं, यानी देहाभिमान से मुक्त ध्यानवृत्ति में स्थित हो जाते हैं । फलतः तुम साधारण मनुष्य हमारे केवल बाह्य शरीर मात्र को ही देख पाते हो, सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं (ऐसा वातरशना मुनि कहते हैं)[२] ।

ऋग्वेद में वर्णित वातरशना मुनि वे ही हैं, जिन्हें भागवत के अनुसार ऋषभदेव ने उपदेश किया था । भागवत में यह भी उल्लेख है कि अपने पुत्र भरत को राज्याभिषिक्त करने के बाद स्वयं ऋषभदेव भी वातरशना मुनि की भाँति अवधूत हो गये थे :

"...भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरित शरीरमात्र परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज । जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव ।" (५.५.२८-२९)

इस प्रकार, ऋग्वेद में संकेतित वातरशना मुनियों के उपदेशक ऋषभदेव स्वयं भी वातरशना मुनियों के प्रमुख प्रमाणित होते हैं । साथ ही, ऋग्वेद-वर्णित वातरशना मुनियों के लक्षण भागवत के ऋषभदेव में भी परिलक्षित होते हैं ।

ऋग्वेद के उक्त सूत्रों में ही 'केशी' की स्तुति उपलब्ध होती है । यह 'केशी' भी कोई नहीं, वरन् ऋषभदेव ही हैं । मन्त्र इस प्रकार है :

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी ।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ।।
(१०.१३६.१)

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग (आकाश) और पृथ्वी को धारण करता है । केशी समस्त जगत् को व्यापकता के साथ दृष्टिगत कराता है । केशी ही प्रकाशमान (ज्ञानमय) ज्योति (केवलज्ञानी) है ।

---

[२] विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य :—महावीर : व्यक्तित्व, उपदेश और आचारमार्ग : ऋषभदास रांका, प्र० भारत जैन महामण्डल, बम्बई, पृ० १२-१३ ।

वातरशना मुनि से सम्बद्ध इस सूक्त में कुल सात मन्त्र हैं, जिनमें छठा और सातवाँ मन्त्र भी केशी की स्तुति से ही सम्बद्ध है। ऋग्वेदोक्त केशी देवता ऋषभदेव का ही पर्याय है।

ऋषभदेव का केशी विशेषण इस अर्थ में सार्थक है कि उनके केश बड़े खूबसूरत और घुँघराले हैं। उनका रूप सौन्दर्य कामदेव के भी दर्प को चूर करने वाला था। भागवत में उपलब्ध उनके नखशिख का वर्णन सौन्दर्य-शास्त्रियों के अध्ययन का उपजीव्य बन सकता है: "अति सुकुमारकरचरणोरःस्थलविपुलबाहुंसगलवदनाद्यवयवविन्यासः प्रकृतिसुन्दरस्वभावहाससमुखो नवनलिनदलायमानशिशिरतारारुणायतनरुचिरः सदृशसुभगकपोल कर्णकण्ठनासो विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन पुखनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागवलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारो···।" (५.६.३१)

अर्थात् ऋषभदेव के हाथ-पैर, छाती, लम्बी-लम्बी बाहें, कन्धे, गले और मुख आदि अंगों की बनावट बड़ी सुकुमार थी; उनका स्वभावतः सुन्दर मुख स्वाभाविक मधुर मुस्कान से और भी मनोहर जान पड़ता था; नेत्र नवीन कमलदल के समान बड़े सुहावने, विशाल और कुछ लाली लिये हुये थे; जिनकी पुतलियाँ शीतल और सन्तापहारिणी थीं। अपने सुभग नेत्रों के कारण वे बड़े रूप-मनोरम प्रतीत होते थे। उनके कपोल, कान और नासिका आकृत्या समान और सुन्दर थे। उनके अस्फुट हास्य-रंजित मनोहारी मुखारविन्द की शोभा देखकर पुरनारियों के चित्त में कामदेव का संचार हो आता था। उनके मनोज्ञ मुख के आगे भूरे रंग की लम्बी-लम्बी घुँघराली लटें लटकी रहती थीं···।"

भगवान् ऋषभदेव के कुंचित केशों की परम्परा ऋग्वेद में, वातरशना मुनियों के वर्णन के क्रम में, 'केशी' नाम में प्राप्त होती है और फिर यही वर्णन-परम्परा ('कुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारो') 'श्रीमद्भागवत' में भी मिलती है। जैन परम्परा में ऋषभदेव की मूर्त्तियों के सिरों पर कुंचित-केशों की अंकन-प्रथा प्राचीन काल से चली आई है, जो आज भी कायम है। यह ऋषभदेव का विशेष अभिज्ञान है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं। ऋषभदेव को 'केसरियानाथ' भी कहते हैं। सिंह भी अपने केशों या केसरों के कारण ही केसरी कहलाता है। शब्दसाम्य के कारण केसरियानाथ पर केसर चढ़ाने की प्रथा अवश्य चल पड़ी हो, परन्तु ऋषभदेव का 'केसरियानाथ' नाम उनके कुंचित केशभार के कारण प्रचलित होना अधिक

युक्तिसंगत है। 'वसुदेवहिण्डी' के वर्णनानुसार ऋषभस्वामी के केश दक्षिणावर्त्त, यानी दाईं ओर से घुँघराले और काले थे, जिससे उनका सिर छत्र के समान सुशोभित था : 'उसभसामी पत्तजोव्वणो य छत्तसरिससिरो, पयाहिणावत्त कसिणसिरोओ।' (द्र० इन पंक्तियों के लेखक द्वारा अनूदित—सम्पादित संस्करण, १९८९ ई०, पृ० ४९७)।

कई विद्वान् वेदों का रचनाकाल ईसा से पाँच हजार वर्ष या इससे भी अधिक पूर्व मानते हैं, किन्तु इतिहासवेत्ताओं का एक ऐसा भी वर्ग है, जो वेदों की रचना ईसा से सिर्फ १५०० वर्ष पहले की बताते हैं। इससे स्पष्ट है ऋषभदेव इससे भी प्राचीन हैं, तभी तो वेदों में उनका उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार जैन धर्म या जैन विषयक सन्दर्भ ऋग्वेदकालीन ही नहीं, ऋग्वेद-पूर्ववर्ती हैं।

उक्त साक्ष्य-सन्दर्भों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनियों और भागवत के वातरशना श्रमण ऋषियों में सहज समानान्तरता है। इनके ही अधिनायक ऋषभदेव का जैन साहित्य में और श्रीमद्भागवत में एक जैसा ही वर्णन मिलता है। इससे यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि जैन परम्परा की तरह जैनेतर परम्परा में भी ऋषभदेव की मान्यता थी और उनकी पूजा-प्रार्थना या आराधना-उपासना दोनों परम्पराओं में समान भाव से प्रचलित थी। इस प्रकार यह सिद्ध है कि समस्त आर्य जाति में समान रूप से ऋषभदेव की न्यूनाधिक मान्यता अति प्राचीनकाल से ही विद्यमान रही है। इससे इस धारणा को भी बल मिलता है कि ऋषभ समग्र आर्य प्रजा के अर्हणीय देव हैं, साथ ही वह ब्राह्मण और श्रमण, दोनों संस्कृतियों के समन्वय के साधक हैं।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

वेणुदारी इन्द्र बोले, 'रावण ने धरणेन्द्र से अमोघ विजयाशक्ति प्राप्त की थी। उस शक्ति को भी पुण्यवान लक्ष्मण ने जीत लिया और रावण का वध कर दिया। उसके सामने रावण का सेवक मधु तो है ही क्या ? उसी लक्ष्मण की आज्ञा से शत्रुघ्न ने मधु को युद्ध में मारा है ?'

चमरेन्द्र बोले, 'उस अमोघ शक्ति को लक्ष्मण ने विशल्या के प्रभाव से जीता था। किन्तु अब विशल्या विवाहित है अतः अब उसका प्रभाव नहीं है। अब वह कुछ नहीं कर सकती। अतः मैं जाकर उसकी हत्या अवश्य करूँगा।'

ऐसा उत्तर देकर क्रोध से भरे चमरेन्द्र शत्रुघ्न के देश मथुरा गए। उन्होंने शत्रुघ्न के सुशासन में सबको स्वस्थ देखा। चमरेन्द्र ने यही सोचकर कि स्वस्थ प्रजा में नाना प्रकार के उपद्रव कर शत्रु को विचलित करना ही उत्तम है। अतः उन्होंने मथुरा की प्रजा में विभिन्न प्रकार की व्याधियाँ फैलायीं। कुल देवों ने आकर शत्रुघ्न को व्याधियों का कारण बताया। तब शत्रुघ्न राम और लक्ष्मण के पास गए।

उसी समय देशभूषण और कुलभूषण मुनि विहार करते हुए अयोध्या आए। राम लक्ष्मण और शत्रुघ्न ने उनके निकट जाकर चरण वन्दना की। तब राम ने मुनि से पूछा, 'शत्रुघ्न ने मथुरा लेने का आग्रह क्यों किया ?'

देशभूषण बोले, 'शत्रुघ्न का जीव अनेक बार मथुरा में उत्पन्न हुआ था। एक बार उसने श्रीधर ब्राह्मण के रूप में जन्म ग्रहण किया था। वह रूपवान और साधुओं का सेवक था। एक समय जब वह राह से गुजर रहा था उसी समय राजा की मुख्य रानी ललिता ने उसे देखा। उसके मन में विकार उत्पन्न हुआ। अतः उसने उसे काम-केलि के लिये बुलवाया। उसी समय राजा भी सहसा वहाँ उपस्थित हो गए। राजा को देखकर ललिता क्षुब्ध हो गई किन्तु वह तुरन्त चोर-चोर कहकर चिल्लाने लगी। राजा ने भी इस प्रकार श्रीधर को पकड़कर सेवकों द्वारा वध्यभूमि में भिजवा दिया। उसने उसी समय दीक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की। अतः कल्याण नामक मुनि ने उसे छुड़वा लिया। मुक्त होकर उसने दीक्षा ग्रहण की और तपस्या कर देवलोक में गया। वहाँ से च्युत होकर मथुरा में चन्द्रप्रभ राजा की रानी कंचनप्रभा के गर्भ से अचल नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। राजा चन्द्रप्रभ उसे बहुत

प्यार करते थे। उसके भानुप्रभ आदि आठ अग्रज सहोदर थे। पिता इसे सबसे अधिक प्यार करते हैं अतः वे इसे ही राज्य देंगे सोचकर उसकी हत्या के विषय में वे सोचने लगे। मन्त्रियों को यह बात मालूम होने पर उन्होंने अचल को सतर्क कर दिया। अचल वहाँ से भाग कर वन में चला गया। वन में चलते समय एक बड़ा काँटा उसके पैर में चुभ गया। उस पीड़ा से अचल चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा।

'उसी समय श्रावस्ती नगरी का अधिवासी अंक जिसको उसके पिता ने घर से निकाल दिया था माथे पर लकड़ी का गट्ठर लिए उधर ही से जा रहा था। उसने अचल को देखा। दया उभड़ने के कारण उसने लकड़ी का गट्ठर नीचे उतारा और उसके पाँव का काँटा निकाल दिया। अचल ने खुश होकर उसके हाथ पर काँटा रखा और बोला, 'भद्र, तुमने बहुत अच्छा कार्य किया है, तुम मेरे परम उपकारी हो। जिस दिन तुम सुनो कि अचल मथुरा का राजा हो गया है उस दिन तुम मथुरा चले आना।'

'वहाँ से अचल कौशाम्बी चला गया। वहाँ उसने राजा इन्द्रदत्त को सिंहगुरु से धनुष का अभ्यास करते देखा। उसने भी सिंहाचार्य और इन्द्रदत्त को अपना धनुष संचालन चातुर्य दिखाया। इससे प्रसन्न होकर इन्द्रदत्त ने अपनी कन्या दत्ता का विवाह उसके साथ कर दिया। कुछ भूमि भी दी। सैन्य बल पाकर अचल ने अंग आदि कई देश को जीत लिया।

'तदुपरान्त उसने सेना लेकर मथुरा पर आक्रमण किया। वहाँ उसने स्व अग्रज भानुप्रभ आदि को युद्ध में बन्दी बना लिया। राजा चन्द्रप्रभ ने उन्हें छुड़ाने के लिए मन्त्रियों को भेजा। अचल ने मन्त्रियों को सारी बात बतायी। मन्त्रियों ने लौटकर राजा को सब कुछ बताया। सुनकर चन्द्रप्रभ बहुत प्रसन्न हुए एवं खूब महोत्सव एवं धूमधाम के साथ अचल को नगर में प्रवेश करवाया।

'तत्पश्चात् राजा चन्द्रप्रभ ने छोटा होने पर भी अचल को सिंहासन पर बैठाया और भानुप्रभ आदि को निर्वासित करना चाहा। अचल ने आग्रह पूर्वक पिता को रोककर उन्हें अपना देह रक्षक बना लिया।

'एक दिन अचल ने नाट्यशाला में अंक को देखा—देखा प्रतिहारीगण ने उसे धक्का देकर बाहर निकाल दिया। अचल ने उसे पुकारा और उसे उसकी जन्मभूमि श्रावस्ती का राजा बना दिया। अद्वितीय मैत्री सम्पन्न वे दोनों एक साथ राज्य करने लगे। अन्त में दोनों ने समुद्राचार्य से दीक्षा ग्रहण की और

मृत्यु प्राप्त कर ब्रह्म देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से चलकर अचल के जीव ने तुम्हारे अनुज शत्रुघ्न के रूप में जन्म लिया। पूर्व जन्म के मोह के कारण उसने मथुरा जाने का आग्रह किया। अंक का जीव भी वहाँ से च्युत होकर तुम्हारा सेनापति कृतान्तवदन बना।' ऐसा कहकर मुनि वहाँ से विहार कर गए। रामचन्द्र आदि भी अयोध्या लौट आए।

प्रभापुर के राजा श्रीनन्दी की रानी धमणी के गर्भ से सात पुत्रों ने जन्म ग्रहण किया। उनके नाम क्रमशः सुरनन्द, श्रीनन्द, श्री तिलक, सर्वसुन्दर, जयंत, चामर और जयमित्र रखा गया। फिर उनके आठवाँ पुत्र हुआ। वह जब एक मास का हुआ तभी श्रीनन्द ने उसे राज्य देकर अपने सातों पुत्रों सहित दीक्षा ग्रहण कर ली। श्रीनन्द तपस्या कर मोक्ष गए और सुरनन्दादि सातों मुनियों ने जंघाचरणलब्धि प्राप्त की। वे महर्षि एक बार विहार करते हुए मथुरा आए। उस समय वर्षा ऋतु आरम्भ हो गयी थी। अतः वे एक पर्वत की गुफा में चातुर्मास व्यतीत करने के लिए अवस्थित हो गए। वे अट्ठाई आदि अनेक प्रकार की तपस्या करने लगे। पारने के दिन वे वहाँ से उड़कर दूर चले जाते और पारना कर पुनः वहीं आ जाते। उनके प्रभाव से चमरेन्द्र ने जो व्याधि मथुरा में उत्पन्न की थी वह नष्ट हो गयी।

एक बार वे मुनिगण पारना करने अयोध्या गए। वहाँ अर्हदत्त श्रेष्ठी के घर भिक्षा के लिए पहुँचे। श्रेष्ठी ने अवज्ञा सहित उन्हें वन्दन किया और मन ही मन सोचा—ये कैसे साधु हैं जो वर्षाकाल में भी विहार करते हैं? मैं इनसे इसका कारण पूछूँ। फिर सोचा नहीं ऐसे पाखण्डियों के साथ बात करना समय नष्ट करना है।

श्रेष्ठी पत्नी ने उन्हें आहार पानी दिया। वे आहार पानी लेकर द्युति नामक आचार्य के उपाश्रय में गए। आचार्य ने ससम्मान उनकी वन्दना की किन्तु उनके शिष्य साधुओं ने उन्हें अकाल विहारी समझकर वन्दना नहीं की। द्युति आचार्य ने उन्हें बैठने के लिए आसन दिया। उन्होंने आसन पर बैठकर पारना किया। फिर बोले, 'हम मथुरा से आए हैं पुनः वहीं चले जायेंगे।' ऐसा कहकर वे उड़कर स्व-स्थान पहुँच गए। उनके जाने के पश्चात् आचार्य ने जंघाचरण मुनियों के गुणों की प्रशंसा की। यह सुनकर उन अवज्ञा करने वाले साधुओं के मन में पश्चाताप हुआ। अर्हदत्त श्रेष्ठी को भी पश्चात्ताप हुआ। श्रेष्ठी कार्तिक शुक्ला सप्तमी को मथुरा गए। वहाँ चैत्य पूजा कर गुफास्थित मुनियों के निकट गए। उन्होंने अपनी अवज्ञा के प्रति मुनियों से क्षमा माँगी।

सप्तर्षियों के प्रभाव से मथुरा रोग मुक्त हो गया सुनकर शत्रुघ्न कार्तिक पूर्णिमा के दिन मथुरा पहुँचे। उन्होंने मुनियों को वन्दना कर निवेदन किया। 'हे महात्मागण, आप मेरे घर पधार कर अन्न-जल ग्रहण करें।' प्रत्युत्तर में वे बोले, 'साधु के लिए राजपिण्ड ग्रहण योग्य नहीं होता।'

शत्रुघ्न ने पुनः निवेदन किया, 'हे स्वामिन्, आपने हमलोगों का महद् उपकार किया है। मेरे राज्य में जो दैनिक रोग फैला था वह आपलोगों के प्रभाव से शान्त हो गया। अतः मुझ पर और समस्त प्रजा पर अनुग्रह कर कुछ दिन यहाँ और अवस्थान करें। कारण आपलोगों की तो समस्त प्रवृत्ति ही परोपकार के लिए होती है।'

मुनियों ने उत्तर दिया, 'वर्षाकाल व्यतीत हो गया है इसलिए अब हम यहाँ से विहार कर तीर्थयात्रा करने जाएँगे। कारण मुनि एक स्थान पर अवस्थित नहीं रहते। तुम इस नगरी के घर-घर में जिन बिम्ब स्थापित करवाओ ताकि इस नगर में कभी भी व्याधि न हो।'

तदुपरान्त सप्तर्षि वहाँ से उड़कर अन्यत्र चले गये। शत्रुघ्न ने प्रत्येक घर में जिन बिम्ब स्थापित करवाया।

उस समय वैताढ्य गिरि की दक्षिण श्रेणी की अलंकार रूपा रत्नपुर नामक नगरी में रत्नरथ नामक राजा राज्य करते थे। उनके चन्द्रमुखी नामक एक रानी थी। उसके गर्भ से मनोरमा नामक एक पुत्री का जन्म हुआ। उसका रूप भी उसके नामानुसार मनोरम और सुन्दर था। वह कन्या क्रमशः यौवन को प्राप्त हुयी। एक दिन राजा जब यह चिन्ता कर रहे थे कि कन्या किसे दें उसी समय अकस्मात् नारद वहाँ उपस्थित हुए। उन्होंने कहा कन्या लक्ष्मण के योग्य है। यह सुनकर गोत्र वैर के कारण रत्नरथ का पुत्र क्रुद्ध हो गया और नेत्रों के संकेत से अपने सेवकों को नारद मुनि को मारने की आज्ञा दी। बुद्धिमान नारद सेवकों को उठते देख उनका अभिप्राय समझ गए और तत्काल उड़कर लक्ष्मण के पास पहुंचे। उस कन्या का रूप एक पट पर अंकित कर लक्ष्मण को दिखाया और अपने साथ घटी घटना उन्हें सुना दी। कन्या का रूप देखकर लक्ष्मण उस पर आसक्त हो गए। अतः वे राम सहित स्व और राक्षस एवं वानरों की सेना लेकर रत्नपुर में उपस्थित हुए। अल्प समय में ही लक्ष्मण ने रत्नपुर को जीत लिया। रत्नरथ ने राम को श्रीदामा और लक्ष्मण को अपनी मनोरमा नामक कन्या दी।

तदुपरान्त राम और लक्ष्मण वैताढ्य गिरि की समस्त दक्षिण श्रेणी जयकर अयोध्या लौट आए और सुखपूर्वक राज्य करने लगे।

लक्ष्मण के सब मिलाकर सोलह हजार रानियाँ और अठाई सौ पुत्र थे। उनमें विशल्या, रूपवती, वनमाला, कल्याणमाला, रत्नमाला, जितपद्मा अभयवती और मनोरमा ये आठ पटरानियाँ थी। इनके पुत्र मुख्य हुए। उनके नाम—विशल्या के श्रीधर, रूपवती के पृथ्वीतिलक, वनमाला के अर्जुन, जितपद्मा के श्रीकेशी, कल्याणमाला के मंगल, मनोरमा के सुपार्श्वकीर्ति, रत्नमाला के विमल और अभयवती के सत्यकार्तिक थे।

राम के चार पत्नी थी। उनके नाम—सीता, प्रभावती, रतिनिभा और श्रीदामा।

एक समय सीता ऋतुस्नाता थी। सोते हुए रात्रि के शेष भाग में उसने स्वप्न देखा। देखा देव विमान से च्युत होकर दो अष्टापद जीव उसके मुख में प्रवेश कर रहे हैं। उसने अपना यह स्वप्न राम को सुनाया। राम बोले, 'हे देवी, तुम्हारे दो वीर पुत्र होंगे। किन्तु यह सुनकर मुझे आनन्द नहीं हुआ कि देव विमान से च्युत होकर दो अष्टापद जीव तुम्हारे मुख में प्रवेश कर गए।'

सीता बोली, 'हे देव, धर्म और आपके प्रभाव से सब कुछ अच्छा ही होगा।' उसी दिन सीता ने गर्भ धारण किया। सीता प्रारम्भ से ही राम को प्रिय थी। गर्भ धारण के पश्चात वह प्रेम और बढ़ गया। वह राम के नेत्रों को तृप्त करने में चन्द्रिका के समान थी।

सीता गर्भवती हो गयी सुनकर उसकी सौतिनों के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो गयी। वे सीता को प्रतारित करने के लिए उससे बोली, 'रावण कैसा था हमें अंकित कर दिखाओ।' सीता बोली, 'मैंने उसका शरीर नहीं देखा केवल पाँव देखे थे। अतः शरीर कैसे अंकित कर दिखाऊँ?' वे बोली, 'तब पाँव ही अंकित कर दिखाओ। उसे देखने की हमारी बहुत इच्छा है।'

सौतिनों के आग्रह से सरलमति सीता ने रावण के चरण चित्रित कर दिए। अकस्मात् राम उसी समय वहाँ आए। उन्हें आते देखकर सौतिनें बोल उठीं। 'स्वामिन्, देखिए, आपकी प्रिय सीता अभी भी रावण को याद करती है। देखिए ना सीता ने रावण के दोनों चरण अंकित किए हैं। सीता तो अभी भी रावण की इच्छा रखती है। आप यह बात ध्यान में रखें।' किन्तु राम ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। गम्भीर होकर वहाँ से चले गये। सीता को पता भी नहीं चला कि वहाँ राम आए थे। सीता को दोषी कहकर उसकी सौतिनों ने अपनी दासियों द्वारा यह बात नगर में प्रचारित करवा दी इससे नगर के लोग सीता को सदोष कहने लगे।

बसन्त ऋतु आयी। राम सीता के निकट गए और बोले, 'भद्रे, तुम गर्भ के कारण खिन्न हो। अतः तुम्हारे विनोद के लिए वसन्त ऋतु आ गयी है। वकुल आदि वृक्ष स्त्रियों के दोहद से ही विकसित होते हैं। अतः चलो हम महेन्द्र उद्यान में क्रीड़ा करने चलें।' सीता बोली, 'हे नाथ मुझे तो देवार्चन करने का दोहद उत्पन्न हुआ है। अतः उस उद्यान के विविध सुगन्धित पुष्पों द्वारा मेरे इस दोहद को पूर्ण करें।'

राम ने अति श्रेष्ठ देवार्चन करवाया। फिर वे सीता को लेकर सपरिवार महेन्द्र उद्यान में गए। वहाँ आनन्दपूर्वक बैठकर राम ने बसन्तोत्सव देखा। वहाँ एक ओर नगरवासी भी क्रीड़ा कर रहे थे और अन्य ओर अर्हंतपूजा का व्यापक आयोजन भी हो रहा था। उसी समय हठात् सीता का दाहिना नेत्र फड़का। वह शंका ग्रस्त होकर राम से बोली। राम ने इसे अशुभ कहा। तब सीता बोली, 'मुझे राक्षस द्वीप में रखकर भी क्या दैव अभी तक तृप्त नहीं हुए? निर्दय दैव क्या पुनः मुझे आपके वियोग से भी अधिक कोई दुख देना चाह रहा है? यदि ऐसा नहीं है तो अशुभकारी संकेत क्यों हो रहा है?'

राम बोले, 'देवी दुख मत करो कारण सुख और दुख तो मनुष्य के कर्माधीन है। प्राणी मात्र को उसे अवश्य भोगना होता है। अतः घर जाकर देवताओं की पूजा करो और सत्पात्र को दान दो। कारण विपत्ति में धर्म ही एकमात्र शरण है।' सीता निज गृह लौट गयी और प्रभु पूजा एवं सत्पात्रों को दान देने में रत हो गयी।

विजय, सुरदेव, मधुमान, पिंगल, शूलधर, काश्यप, काल और क्षेम नामक राजधानी के बड़े-बड़े अधिकारी जो कि नगरी का यथार्थ वृतान्त जानने के लिए नियुक्त थे एक दिन राम के पास आए और वृक्ष की तरह थर-थर काँपने लगे। वे राम से कुछ कह ही नहीं सके कारण राजतेज बड़ा दुःसह होता है। तब राम उनसे बोले, 'हे नगरी के महान् अधिकारीगण, आपलोगों को जो कुछ कहना है कहो कारण आपलोग एकान्त हितवादी हो इसलिए निर्भय हो।'

राम का कथन सुनकर वे कुछ स्थिर हुए। उनमें विजय नामक अधिकारी जो कि सबका प्रमुख था अत्यन्त सावधानीपूर्वक इस प्रकार कहने लगा, 'हे स्वामिन्! एक बात है जिसे कहने की एकान्त आवश्यकता है यदि नहीं कहते हैं तो हम स्वामी की प्रवंचना करेंगे किन्तु वह अत्यन्त कटु है। हे देव, देवी सीता पर एक कलंक लगा है। जिसका होना सम्भव नहीं है पर लोग सीता के लिए वही सब कह रहे हैं। नीति वाक्य यही कहता है कि जो बात युक्ति

संगत होती है पण्डित उस पर अविश्वास नहीं करते। लोक कह रहे हैं रति क्रीड़ा की इच्छा से रावण ने सीता का हरण किया था, उसे अपने घर में अकेला रखा था। सीता बहुत दिनों तक उसके घर में रही। सीता रावण पर आसक्त थी या विरक्त इसमें क्या आनी-जानी है? रावण स्त्री लम्पट था अतः बिना भोगे सीता को छोड़ा नहीं होगा। भोग चाहे सीता को समझा-कर करे या जबरदस्ती करे। लोक जो कुछ कह रहे हैं हमने उसे आपके सम्मुख निवेदन कर दिया। इस युक्ति संगत कलंक को आप सहन नहीं करेंगे। हे देव, आपने जन्म से ही अपने कुल की भाँति कीर्ति अर्जित की है। अतः आप उस मलिन कलंक को सहकर स्वयश को मलिन न करें।'

राम कुछ क्षण चुप रहे। मन ही मन सोचने लगे सीता कलंक की अतिथि हो गयी है। उसके प्रेम का परित्याग करना भी कठिन है। किन्तु कुछ क्षणों पश्चात् अत्यन्त धैर्य पूर्वक बोले, 'हे महापुरुषगण, आपने यह अच्छा किया जो मुझे सचेत कर दिया। राजभक्त सेवक कभी किसी बात की अपेक्षा नहीं रखते। मात्र स्त्री के लिए मैं ऐसा कलंक सहन नहीं करूँगा।' ऐसा कहकर राम ने अधिकारियों को विदा किया और उस रात्रि खुद अकेले भेष बदल कर प्रासाद के बाहर निकले। नगर में भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर उन्होंने लोगों को यह कहते सुना, 'रावण सीता को ले गया। दीर्घकाल तक सीता रावण के घर रही फिर भी राम उसे ले आए हैं। और अभी भी उसको सती समझते हैं। कैसे हो सकता है यह? स्त्री लम्पट रावण ने सीता को ले जाकर क्या बिना भोगे छोड़ा हैं? राम ने बिलकुल सोचा ही नहीं। सच ही कहा है आसक्त व्यक्ति दोष नहीं देखता।' इस प्रकार सीता के कलंक की बातें सुनकर राम पुनः प्रासाद को लौट गए। दूसरे दिन उन्होंने पुनः गुप्त-चरों को भेजा।

राम सोचने लगे—सीता के लिए मैंने राक्षस कुल को भयंकर रूप में नष्ट किया है, उसी सीता पर यह कैसा लांछन? मैं जानता हूँ सीता महासती है। रावण स्त्रीलोलुप था किन्तु हमारा कुल निष्कलंक है। अब मुझे क्या करना चाहिए?

राम के पास लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण आदि बैठे थे। उसी समय गुप्तचर आए। लोग सीता के विषय में जो बातें कहते हैं वह सुनायी। सुनकर लक्ष्मण क्रोधित हो गए। वे भृकुटि चढ़ाकर बोले, 'जो मिथ्या कारण से दोष की कल्पना करते हैं, सती सीता की निन्दा करते हैं, मैं उनके लिए काल-स्वरूप हूँ।'

राम बोले, 'शान्त हो जाओ भाई, मैंने नगर का समाचार लाने के लिए इन लोगों को नियुक्त किया था। उन्होंने पहले भी मुझे यह बात कही थी। मैं स्वयं भी यह सुनकर आया हूँ और ये लोग भी मेरे कहने से ही यह समाचार लाए हैं। अतः सीता को मैंने जैसे स्वीकार किया था उसी प्रकार अब उसका परित्याग करूँगा ताकि लोग मुझे कलंकित न करें।'

लक्ष्मण बोले, 'आर्य, लोगों के कहने से सीता का परित्याग न करें। क्योंकि लोग जो मन में आता है वही कह देते हैं। उनका मुँह कोई बन्द नहीं कर सकता। वे राज्य में सुव्यवस्था होते हुए भी राजा को दोषी ठहराते हैं। अतः राजा को ऐसे लोगों को दण्ड देना चाहिए या फिर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए।'

राम बोले, 'यह ठीक है, लोग ऐसे ही होते हैं। फिर भी जो बात सबके विरुद्ध है, जिसे कोई पसंद नहीं करता, यशस्वी पुरुषों के लिए उसका त्याग करना उचित है।'

तदुपरान्त राम ने कृतान्त वदन नामक सेनापति को बुलवाया और बोले, 'यद्यपि सीता गर्भवती है फिर भी उसे अरण्य में ले जाकर छोड़ आओ।' यह सुनकर लक्ष्मण रो पड़े और राम के चरणों को पकड़ कर बोले, 'आर्य, महासती सीता का परित्याग अच्छा नहीं है।' राम ने कहा, 'अब तुम इस विषय में मुझे और कुछ मत कहो।' ऐसा सुनकर लक्ष्मण वस्त्र से मुँह दबाए रोते हुए अपने प्रासाद में चले गए। राम कृत्तान्तवदन से बोले, 'सम्मेत शिखर की यात्रा के बहाने तुम सीता को वन में ले जाओ। सीता की ऐसी इच्छा भी है।'

कृतान्तवदन ने सम्मेत शिखर की यात्रा की बात जाकर सीता से कही। सीता सम्मत हो गयी। कृतान्तवदन उन्हें रथ में बैठाकर ले गया।

जाते समय सीता ने बहुत से अपशकुन देखे। फिर भी सरलता के कारण वह शान्त रूप से बैठी रहीं। वे बहुत दूर चले गये। चलते-चलते वे गंगासागर उतरकर सिंहनिनाद नामक वन में गए। रथ को वहाँ रखकर कृतान्तवदन कुछ सोचने लगा। सोचते-सोचते उसका मुँह उतर गया। आँखों से अश्रु प्रवाहित होने लगा।

यह देखकर सीता बोली, 'हे सेनापति, हृदय में क्या भयानक शोक का आघात लगा है जो तुम इस प्रकार दुखी होकर स्थिर हो गए हो?'

कृतान्तवदन ने कहा, 'माँ' मैं दुर्वचन किस प्रकार बोलूँ। मैं सेवकत्व

से दूषित हूँ। इसीलिये मुझे यह अकृत्य करना पड़ता है। देवी, आप राक्षस के घर रही लोग इसके लिए आपको कलंकित कर रहे हैं। गुप्तचरों ने देव राम को लोग आप पर जो कलंक लगा रहे हैं वह सुनाया। सुनकर राम आपका परित्याग करने के लिए प्रस्तुत हो गये हैं। लक्ष्मण लोगों पर कुपित हुए। उन्होंने राम को ऐसा करने से बहुत रोका किन्तु राम ने उन्हें आज्ञा देकर ऐसा कहने से रोक दिया। लक्ष्मण रोते-रोते वहाँ से चले गए। तब प्रभु ने मुझे यह कार्य करने की आज्ञा दी। हे देवी, मैं महापापी हूँ, इसीलिए मैं आपको हिंस्र श्वापद युक्त मृत्यु के गृह रूप इस अरण्य में छोड़कर जा रहा हूँ। आप केवल अपने प्रभाव से ही इस अरण्य में बच सकेंगी।'

सेनापति की बात सुनकर सीता मूर्च्छित होकर रथ से नीचे गिर पड़ी। सेनापति उसे मृत समझकर एवं स्वयं को पापी समझकर करूण स्वर में क्रन्दन करने लगा।

कुछ क्षणों पश्चात् वन की शीतल हवा से सीता की चेतना लौटी। किन्तु वह पुनः मूर्च्छित हो गयी। इस प्रकार वह बार-बार अचेत और सचेत होती हुयी फिर कुछ स्वस्थ होकर बोली, 'अयोध्या यहाँ से कितनी दूर है? राम कहाँ है?'

सेनापति बोले, 'हे देवी, अयोध्या यहाँ से बहुत दूर है। आप अयोध्या के विषय में क्यों पूछ रही हैं? और ऐसी उग्र आज्ञा प्रदान करने वाले राम के विषय में भी आप क्यों पूछ रही है?'

सेनापति की यह बात सुनकर रामभक्त सीता बोली, 'हे भद्र, तुम राम को मेरा यह संदेश देना—आप यदि लोकोपवाद से इतने भयभीत हो गए हैं तो मेरी परीक्षा क्यों नहीं ली? लोक में शंका होने पर दिव्यादि द्वारा परीक्षा ली जाती है। मैं अभागिन हूँ अतः इस वन में स्व-कर्मों का फल भोग करूँगी। किन्तु आपने जो कार्य किया है वह आपके विवेक और कुल के सर्वथा अयोग्य है। जिस प्रकार दुर्जनों की बात सुनकर आपने मेरा परित्याग किया है उसी प्रकार दुर्जन लोगों के कहने से आप जिन-धर्म का परित्याग मत कर दीजिएगा।'

ऐसा कहकर सीता पुनः मूर्च्छित हो गयी। स्वस्थ होने पर फिर बोली—'हाय, राम मेरे बिना कैसे जीवित रहेंगे? हा हन्त मैं मारी गयी! हे वत्स कृतान्त, तुम राम को मेरा कल्याण और लक्ष्मण को मेरा आशीर्वाद देना। तुम्हारा पथ विघ्न रहित हो! अब तुम शीघ्र राम के पास लौट जाओ।'

सेनापति कृतान्त ने बड़े कष्ट से अपने मन को समझाया और सीता को वन में छोड़कर अयोध्या की ओर चल पड़े। जाते-जाते सोचने लगे—राम का विचार सीता के एकदम विपरीत है फिर भी सीता राम के प्रति कितनी भक्ति परायण है। सीता सती शिरोमणि महासती है।

अष्टम सर्ग समाप्त

नवम सर्ग

सीता भयार्त होकर पागलों की तरह इधर-उधर घूमने लगी और पूर्व कर्म दूषित स्व-आत्मा की निन्दा करने लगी। बार-बार वह जोर से रोने लगी और गिर-गिर पड़ने लगी। इसी प्रकार वह एक दिशा में जा रही थी। उसी समय उसने सामने से एक सैन्य दल को आते देखा। वह वहीं खड़ी हो गयी और स्थिरमना होकर नमस्कार महामन्त्र का जाप करने लगी।

सैनिकों ने सीता को देखा। उन्हें देखकर वे डर गये। वे सोचने लगे—यह अपूर्व दिव्य रूप सम्पन्ना सुन्दरी कौन है जो इस प्रकार अकेली अरण्य में घूम रही है?

सीता कुछ क्षण स्थिर रही किन्तु अपनी अवस्था याद आते ही वह पुनः रो पड़ी। उसके उस करुण क्रन्दन को उस सैन्य दल के राजा ने सुना। सीता के मनस्ताप और क्रन्दन को सुनकर राजा को लगा यह कोई गर्भिणी और सती स्त्री है।

वह दयालु राजा सीता के निकट गया। राजा को देखकर सीता शंकित हो गयी। उसने अपने अलंकारों को खोलकर राजा के सम्मुख रख दिए।

राजा बोले, 'बहन डरो मत। ये अलंकार तुम्हारे ही है, तुम धारण करो। तुम्हारा पति कौन निर्दयी शिरोमणि है जिसने तुम्हें इस अवस्था में परित्याग कर दिया? सब कुछ स्पष्ट रूप में बताओ। मन में कोई शंका मत रखो। तुम्हारे कष्ट को देखकर मुझे भी कष्ट हो रहा है।'

राजा के मंत्री सुमति बोले, 'ये पुण्डरिकपुर के राजा वज्रजंघ हैं। इनके पिता का नाम गजवाहन है। वन्धुदेवी नामक रानी के गर्भ से इनका जन्म हुआ है। ये महासत्व सम्पन्न परनारी सहोदर और परम श्रावक हैं। ये इस वन में हाथी पकड़ने आए थे। अपना कार्य समाप्त कर ये लौट रहे हैं। इसी बीच इन्होंने तुम्हारा क्रन्दन सुना। तुम्हारा क्रन्दन सुनकर इन्हें दुख हुआ। अतः तुम्हारे निकट आए हैं। तुम्हारा जो दुख है इन्हें बताओ।'

सीता ने उनकी बात पर विश्वास कर रोते-रोते अपनी सारी कथा

बतायी। यह सुनकर राजा और मंत्री दोनों ही रो पड़े। तदुपरान्त राजा निष्कपट भाव से बोले, 'तुम मेरी धर्म बहन हो कारण एक धर्मावलम्बी परस्पर बन्धु ही होते हैं। तुम मुझे अपने भाई भामण्डल के समान समझो और मेरे घर चलो। पति के घर के अतिरिक्त स्त्री का अन्य घर भाई का घर ही होता है। राम ने लोकोपवाद से तुम्हारा परित्याग किया है, स्वेच्छा से नहीं। इसलिए मुझे लगता है वे भी इस कार्य के लिए पश्चात्ताप करते हुए तुम्हारी ही तरह कष्ट पा रहे हैं। विरहातुर राम चक्रवाक पक्षी की तरह व्याकुल होकर कुछ ही दिनों में तुम्हें खोजने निकलेंगे।'

सीता ने वज्रजंघ के साथ पुण्डरीकपुर जाना स्वीकार कर लिया। उस निर्विकारी राजा ने सीता के लिए पालकी मंगवायी। सीता उसमें बैठकर मानो मिथिलापुरी जा रही हो इस प्रकार पुण्डरीकपुर जा रही थी। वज्रजंघ ने उसके निवास के लिए पृथक घर दिया। वह वहाँ धर्मध्यान कर अपना समय व्यतीत करने लगी।

सेनापति कृतान्तवदन अयोध्या पहुँचकर राम के पास जाकर बोले, 'मैं सीता को सिंहनिनाद नामक वन में छोड़ आया हूँ। वहाँ वे बार-बार मूर्च्छित हो रही थीं। जब भी चेतना लौटती करुण स्वर में रोने लगतीं। अन्त में सामान्य धैर्य धारण कर उन्होंने मुझे आपको यह कहने के लिए कहा है, 'किसी भी नीतिशास्त्र में किसी भी विधान में या किसी भी देश में मात्र एक पक्ष की बात सुनने मात्र से ही बिना खोज खबर लिए अन्य पक्ष को अपराधी स्थिर कर कभी दण्ड दिया जाता है? आप सर्वदा विवेक पूर्वक कार्य करते हैं फिर भी यह कार्य आपने बिना विचारे ही किया है। मैं तो अपने प्रति होने वाले अविचार को अपने कर्मों का ही कारण मानती हूँ। आप तो सर्वदा निर्दोषी ही हैं। फिर भी स्वामी एक बात कहती हूँ—मैं निर्दोष हूँ आपने लोगों की बात मानकर मेरा परित्याग कर दिया। किन्तु इस प्रकार मिथ्यादृष्टि सम्पन्न लोगों की बात मानकर जैनधर्म का परित्याग मत करिएगा।' ऐसा कहकर वे पुनः मूर्च्छित हो गयीं। कुछ क्षणों पश्चात् पुनः संज्ञा लौटने पर वे पुनः बोल उठी—'हाय मेरे बिना राम कैसे जीवित रहेंगे? हाय, मैं मारी गयी।'

कृतान्तवदन के मुख से सीता द्वारा भेजा संवाद सुनकर राम मूर्च्छित हो गए। उसी समय लक्ष्मण ससंभ्रम वहाँ आए और उन पर चन्दन जल के छींटे डाले। ज्ञान आने पर राम बोल उठे, 'वह महासती सीता कहाँ है? जिसे मैंने लोगों की बात में आकर वन में छुड़वा दिया।'

लक्ष्मण बोले, 'हे स्वामी, अब तक महासती सीता अपने प्रभाव से ही श्वापद प्राणियों से बची हुई हैं। अतः आपके विरह दुख में मरने के पूर्व ही उन्हें खोजकर ले आएँ।'

लक्ष्मण की बात सुनकर राम सेनापति कृतान्त वदन और अन्य खेचरों को साथ लेकर विमान द्वारा उसी वन में पहुँचे जहाँ कृतान्त वदन सीता को छोड़कर आया था वहाँ राम ने प्रत्येक जलाशय, प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक वृक्ष, प्रत्येक लता को छान मारा किन्तु सीता कहीं नहीं मिली। अब राम और दुखी हो गए। वे सोचने लगे—लग रहा है सिंह या अन्य किसी हिंस्र श्वापद ने उसे खा डाला है। बहुत खोजने के पश्चात् भी जब सीता नहीं मिली तो वे निराश होकर अयोध्या लौट आए। सारे नगर में यह बात फैल गयी। नगरवासी बार-बार सीता के गुणों की प्रशंसा और राम की निन्दा करने लगे। राम ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से सीता की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की। राम को समस्त संसार सीतामय लगने लगा। उनका हृदय उनका नेत्र उनकी वाणी सीता के सिवाय कुछ नहीं कह रही थी। सीता कहाँ थी उस समय राम यह नहीं जान पाए।

सीता ने वज्रजंघ के यहाँ युगल पुत्रों को जन्म दिया। उनका नाम रखा गया अनंगलवण और मदनांकुश। महान हृदयी राजा वज्रजंघ ने अपने पुत्र के जन्मोत्सव से भी ज्यादा उत्सव मनाया। धात्रियाँ उनका लालन-पालन करने लगी। क्रीड़ा करते हुए दोनों दुर्ललित भ्राता भूचारी अश्विनी कुमारों की तरह बड़े होने लगे। अल्प दिनों में ही दोनों बालक बाल्य कला ग्रहण और हस्ती शावक की तरह शिक्षा लाभ के योग्य होकर वज्रजंघ के नेत्रों को महामहोत्सव की तरह आनन्दित करने लगे।

उसी समय सिद्धार्थ नामक एक अणुव्रतधारी सिद्धपुत्र जो कि विद्याबल की सम्वृद्धि से सम्पूर्ण कला व शास्त्रों में विचक्षण, आकाशगामी होने के कारण मेरुगिरि स्थित चैत्यों की वे त्रिकाल वन्दना करते थे। एक दिन भिक्षा के लिए वे सीता के घर आए। सीता ने श्रद्धापूर्वक अन्न-जल देकर उनका सत्कार किया और कुशल-क्षेम पूछा। उन्होंने इसका प्रत्युत्तर देकर सीता की कुशलता पूछी। उन्हें अपनी भाई के समान समझकर सीता ने प्रारम्भ से लेकर पुत्रोत्पत्ति तक का सारा वृतान्त सुनाया। सुनकर अष्टांग निमित्त के ज्ञाता दयानिधि सिद्धार्थ बोले, 'तुम व्यर्थ चिन्ता मत करो कारण लवण व अंकुश जैसे तुम्हारे दो पुत्र हैं, श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त ये दूसरे राम और

लक्ष्मण है। ये तुम्हारा समस्त मनोरथ पूर्ण करेंगे।' इस प्रकार उन्होंने सीता को आश्वासन दिया।

सीता ने तब साग्रह प्रार्थना कर अपने पुत्रों को पढ़ाने के लिए उन्हें रख लिया। सिद्धार्थ ने लवण और अंकुश को समस्त कलाओं में इस प्रकार कुशलता से शिक्षा प्रदान की कि वे देवों के लिए भी अजेय हो गये। समस्त कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने में उन्हें इतने दिन लगे कि वे युवा हो गए। अब वे दोनों भाई वसन्त और कामदेव की तरह शोभायुक्त बन गए।

वज्रजंघ ने अपनी रानी लक्ष्मीवती के गर्भ से उत्पन्न शशिचूला और अन्य बत्तीस कन्याओं के साथ लवण का विवाह कर दिया। तदुपरान्त अंकुश के लिए पृथ्वीपुर के राजा पृथु से उनकी रानी अमृतवती के गर्भ से उत्पन्न कन्या की मांग की। पराक्रमी पृथु ने उत्तर दिया—'जिसके वंश का कोई ठिकाना नहीं उसे कन्या किस प्रकार दूँ?'

यह सुनकर वज्रजंघ कुपित हो गया और पृथ्वीपुर पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में वज्रजंघ ने पृथु के मित्र व्याघ्ररथ को बन्दी बना लिया। इससे राजा पृथु ने स्वमित्र पोतनपुराधिपति को सहायता के लिए बुला भेजा। कारण विपत्ति में मन्त्र की तरह मित्र का भी स्मरण किया जाता है। वज्रजंघ ने भी अपने पुत्र को बुला लिया। बहुत मना करने पर भी लवण और अंकुश उनके साथ युद्ध क्षेत्र में आए।

द्वितीय दिन उभय सेना में भयानक युद्ध हुआ। इस युद्ध में बलवान शत्रु ने वज्रजंघ को पराजित कर दिया। मामा की सेना की दुर्गति देखकर लवण और अंकुश क्रुद्ध होकर निरंकुश हस्ती की तरह अनेक प्रकार के शस्त्रों की वर्षा कर शत्रु पर आक्रमण कर दिया। वर्षा ऋतु के धारापात को जैसे वृक्ष सहन नहीं कर सकते उसी भाँति बलवान वीरों के प्रहार को शत्रु सहन नहीं कर सका। पृथु राजा सैन्य सहित पीछे हटने लगे और युद्ध छोड़कर भागने लगे। यह देखकर लवण और अंकुश हँसते हुए उससे बोले—'तुम प्रख्यातवंशी होकर भी हमारे जैसे अज्ञात कुलवालों को पीठ दिखाकर क्यों भाग रहे हो?'

यह सुनकर पृथु राजा पीछे फिरकर नम्रतापूर्वक बोले, 'आपका पराक्रम देखकर अब आपके कुल को जान लिया है। राजा वज्रजंघ ने अंकुश के लिए मेरी कन्या की मांगकर मेरी भलाई ही की है। कारण, ऐसा वीर पात्र तो खोजने पर भी हीं नमिलता। ऐसा कहकर राजा ने उसी समय अपनी कन्या अंकुश को देने का वचन दिया। स्वकन्या कनकमाला के पति अंकुश ही हो

ऐसी इच्छा कर राजा पृथु ने समस्त राजाओं के सम्मुख वज्रजंघ से सन्धि कर ली। राजा वज्रजंघ वहीं छावनी डालकर अवस्थित हो गए।

एक दिन वहाँ नारद मुनि आए। वज्रजंघ राजा ने उनका उचित आदर सत्कार किया। तदुपरान्त वे समस्त राजाओं के सम्मुख नारद मुनि से बोले, 'हे मुनि, पृथु राजा अपनी कन्या अंकुश को देना चाह रहे हैं। किन्तु इनके मन में लवण और अंकुश के कुल के सम्बन्ध में सन्देह है। अतः आप इनके कुल का पृथु राजा को परिचय दें ताकि वे सन्तुष्ट हो जाएँ।'

नारद हँस कर बोले, 'इनके कुल को कौन नहीं जानता ? जिस कुल की उत्पत्ति के प्रथम अंकुर भगवान ऋषभ हैं। जिस कुल में कथा-प्रसिद्ध भरतादि चक्रवर्ती राजा हुए और इस समय जिस कुल में राम-लक्ष्मण राज्य कर रहे हैं उस कुल को कौन नहीं जानता ? ये लोग जिस समय गर्भ में थे उसी समय अयोध्या के अधिवासियों के कलंक लगाने से राम ने भयभीत होकर सीता को त्याग कर दिया।'

अंकुश हँसकर बोल उठा, 'हे महामुनि, राम ने सीता को परित्याग कर ठीक नहीं किया। कलंक दूसरे रूप में भी दूर किया जा सकता था। राम ने पण्डित होकर भी ऐसा कार्य कैसे किया ?' लवण ने पूछा, 'वह अयोध्या यहाँ से कितनी दूर है, जहाँ मेरे पिता सपरिवार रहते हैं ?'

नारद बोले, 'समस्त विश्व में निर्मल चरित्र वाले तुम्हारे पिता राम जहाँ रहते हैं वह अयोध्या यहाँ से एक सौ साठ योजन दूर है।'

लवण नमस्कार कर वज्रजंघ राजा से बोला, 'हम वहाँ जाकर राम और लक्ष्मण को देखना चाहते हैं।'

वज्रजंघ ने यह बात स्वीकार कर ली। वहीं से अयोध्या जाना निश्चित हुआ अतः पृथु राजा ने खूब धूमधाम सहित अपनी कन्या कनकमाला का विवाह अंकुश के साथ कर दिया।

[क्रमशः

संकलन

॥ केवल नाम के साथ जैन लिखना पर्याप्त नहीं ॥

पिछले कई वर्षों से एक फैशन भरा आग्रह जैन समाज में चल पड़ा है कि अपने नाम के साथ जैन शब्द जरूर लगाया जाय। जैन संस्थाएँ और पत्रिकाएँ अपनी ओर से नाम एवं गोत्र के साथ जबरन 'जैन' शब्द जोड़ देती हैं। कई मीटिंगों में जैन शब्द का प्रयोग नहीं करने वालों के विरुद्ध कुछ आग्रही व्यक्ति आक्रोश भी व्यक्त करते देखे जाते हैं। यह ठीक कि हमारी जैन के रूप में पहचान हो और लोग जानें कि हम जैन धर्म को मानने वाले हैं। जैन होना सचमुच गौरव की बात है। किन्तु पहले हम अपने आचरण, व्यवहार, खान-पान पर गौर कर लें कि क्या हम सचमुच जैन हैं? जैन अहिंसक होता है, जैन रात्रि भोजन नहीं करता है, जैन व्यसन-मुक्त होता है, जैन अप्रामाणिक नहीं होता है और जैन शुद्ध शाकाहारी होता है। इसके अतिरिक्त भी जैन की अनेक विशेषताएँ हैं। एक सच्चा श्रावक ही जैन हो सकता है अतः हम देखें कि श्रावक के गुण हमारे जीवन में हैं या नहीं? केवल नाम के साथ जैन लगाना पर्याप्त नहीं है बल्कि सचमुच जैनत्व के संस्कार होने जरूरी हैं। यदि हमारा आचार-व्यवहार जैनत्व के विरुद्ध है और हम जैन शब्द का नाम के साथ उपयोग करते हैं तो क्या हम जैन धर्म का हित कर रहे हैं? कत्लखाने खोलने से लेकर मछली पकड़ने का ठेका लेने, मांस निर्यात करने, मिलावट करने, चोरबाजारी एवं तस्करी जैसे धन्धों में जुड़े रहने वालों के आगे-पीछे जैन शब्द देखते हैं तो शर्म से सिर झुक जाता है।

—श्री चन्दनमल 'चांद'

जैन जगत ॥ मई १९९३

जिन मंजरी ॥ अप्रैल १९९३

इस अंक में है 'Hemacandra on the Rite of Worshipping the Jina' (Dr. John E. Cort), 'The Concept and the Nature of God in Jain Religion' (Dr. Bhagcandra Jain), 'A Jain Prolegomenon to Dialogue' (Dr. John Sahadat), 'Anekantavad : Jaina Theory of Many-sided View' (S. A. Bhuvanendra Kumar), 'Unfolding the Symbols of Jain Tradition' (Dr. Vrsabh Prasad Jain), 'Ancient Jaina Scholars and Their Works' (Late Dr. J. P. Jain), 'Jainism and the Saivas in Western Karnataka—A Religious Tolerance and Harmony (1500 A. D.—1700 A. D.)' (Dr. K. G. Vasantamadhava).

प्राकृत विद्या ॥ अक्टूबर '९२-मार्च '९३

सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'प्राकृत एवं उसकी भाषा-परम्परा' (आचार्य श्री विद्यानन्द) 'प्राकृत साहित्य, संस्कृति और विज्ञान' (डा. प्रेमसुमन जैन), 'धर्म की परिभाषा और जैन धर्म' (डा. नन्दलाल जैन), 'सूफी मत और जैन दर्शन की जीवन दृष्टि' (डा. निजामुद्दीन), 'ज्ञान के चिराग से मनोविकार तिरोहित' (डा. राजेन्द्रकुमार बंसल), 'सेतुबन्ध का छन्द विधान' (डा. हरिशंकर पाण्डेय), 'प्रकीर्णक साहित्य में वर्णित समाधि-मरण' (सुरेश सिसोदिया), 'अष्टपाहुड़ की टीकाएँ और पद्यानुवाद' (डा. महेन्द्र कुमार जैन 'मनुज'), 'दोहा पाहुड़ का प्रतिपाद्य विषय' (आभारानी जैन), 'भारतविद् जर्मन मनीषी : हर्मन ज्याजँ याकोबी' (डा. ईश्वरदयाल), 'भगवान महावीर और सामाजिक क्रान्ति' (हरखचन्द शाह), 'भगवान महावीर और जनकल्याण' (महावीर मिण्डा)।

तीर्थंकर ॥ मई १९९३

सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'साधु की आलोचना अथवा आत्मालोचन' (कन्हैयालाल सरावगी), 'केरल के जैन' (राजमल जैन), 'साधु संस्था : प्रश्न चिन्हों के जटिल घेरे में' (अमरेन्द्र प्रकाश जैन की डा. दरबारीलाल कोठिया से बातचीत), 'जैन समाज के विवेकानन्द : वीरचन्द गाँधी' (डा. रामजी सिंह), 'राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' : कुछ और तथ्य' (मांगीलाल भूतोड़िया)।

LODHA MOTORS

A House of Telco Genuine Spare Parts and
Govt. Order Suppliers.
Also Authorised Dealers of Pace-setter and
Nicco Batteries in Nagaland State.

GOLAGHAT ROAD, DIMAPUR
NAGALAND

Phone : Off. 21039
Res. 21174

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn, Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Factory and Sales Office :
BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phone : Off. 3204
Res. 3356

Main Office :
4 Meer Bohar Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 30-2071

Branch Office :
Peerkhanpur : Bhadhoi
Phone : 5378
5578,5778

WB/NC-330
Vol. XVII No. 2 TITTHAYARA June 1993
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77

बनारसी साड़ी
इण्डियन सिल्क हाउस
कॉलेज स्ट्रीट मार्केट • कलकत्ता-१२